व्याकरणदर्शन और शब्दब्रह्म

प्रोफेसर श्रीकृष्ण शर्मा, व्याकरणपीठाध्यक्ष, ज.रा. राजस्थान-संस्कृत-विश्वविद्यालय, मदाऊ, जयपुर

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

'व्याकरण' शब्दविवेचन

व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते अर्थात् असाधु-शब्देभ्यः साधुशब्दाः पृथक् क्रियन्ते येन तद् व्याकरणम्। उक्त 'व्याकरण' शब्द के निर्वचन से स्पष्ट है कि सास्नादिमान् अर्थ में प्रयुक्त गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि असाधु शब्दों से पृथक् करके 'गो' शब्द में साधुत्व का विधान करने वाला शास्त्र 'व्याकरण' कहलाता है। अतः इसे 'शब्दानुशासन' शास्त्र भी कहा जाता है। 'अथ शब्दानुशासनम्' इस ग्रन्थारम्भप्रयोजनपरक भाष्य पर 'प्रदीप' टीकाकार कैयट लिखते हैं 'भाष्यकारो विवरण-कारत्वाद् व्याकरणस्य साक्षात्प्रयोजनमाह -अथ शब्दानुशासनमिति।' अर्थात् व्याकरण का साक्षात् प्रयोजन तो शब्दानुशासन ही है। रक्षोहागमादि तो शब्दानुशासन के प्रयोजन हैं। वेद के छः अङ्गों में 'व्याकरण' को ही प्रधान अङ्ग माना गया है। महाभाष्य के पस्पशाह्निक में व्याकरण को **'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्'** इस लक्षण से लक्षित किया गया है जो कि लक्ष्यगत साधुत्व के लक्षक शास्त्र को ही 'व्याकरण' सञ्ज्ञा से अभिहित करता है।

व्याकरण में दर्शन

व्याकरणशास्त्र के दो पक्ष हैं-प्रक्रिया पक्ष और दार्शनिक पक्ष। पाणिनि की अष्टाध्यायी ही दोनों पक्षों का मूल है। अतः वामन-जयादित्य का 'काशिकावृत्ति' ग्रन्थ तथा भट्टोजिदीक्षित की 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' इत्यादि कृतियाँ जहाँ व्याकरण के प्रक्रियापक्ष को प्रस्तुत करती हैं, वहीं व्याडि मुनि रचित 'सङ्ग्रह', 'पातञ्जल महाभाष्य', भर्तृहरि कृत 'वाक्यपदीयम्', नागोजिभट्ट कृत

'वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषात्रय', कौण्डभट्ट कृत 'वैयाकरणभूषण-सार' प्रभृति कृतियाँ व्याकरण के दर्शनपक्ष को उज्जागर करती हैं।

अष्टाध्यायी का 'स्वतन्त्रःकर्त्ता' (पा. १.४.५४) केवल कर्तृसञ्ज्ञाविधायक सूत्र ही नहीं है, अपितु सृष्टि के मूल परब्रह्म का भी द्योतक है जो सभी दार्शनिक धाराओं का मूल कहा गया है, द्रष्टव्य है-

अस्ति च प्रधानवचनः। स्व=आत्मा, तन्त्रम्=प्रधानम् अस्य, स्वतन्त्र इति।[1]

भारतीय दर्शनों का यह स्वभाव है कि प्राणी मात्र के कल्याण के लिए मार्गदर्शन करें। एतदर्थ सभी दर्शनों ने अध्यात्म का अजस्र प्रवाह किया। '**आत्मनि इति अध्यात्मम्**' यहाँ विभक्त्यर्थ में 'अव्ययीभाव' समास द्वारा स्पष्ट सङ्केत है कि आत्मविषयक चिन्तन '**अध्यात्म**' कहलाता है। '**तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्थाः विद्यतेऽयनाय**'[2] '**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च**'[3] इत्यादि श्रुतियाँ आत्मसाक्षात्कार स्वरूप मोक्ष और उसके उपायभूत श्रवण-मननादि का प्रतिपादन करती हुई साक्षात् 'दर्शन' पद की अन्वर्थकता ('दृश्यते = आत्मतत्त्वं विचार्यते येन तद् दर्शनम्') को सिद्ध करती हैं।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्त्वे प्रजापतिः॥[4]

अर्थात् शब्दोपादानक सृष्टिप्रक्रिया को विधाता वैयाकरण (प्रजापति) ने परस्पर अनुस्यूत सत्य और असत्य को पृथक्-पृथक् करके परमार्थरूप सत्यात्मक वस्तु में श्रद्धा और असत्य रूप अनात्मक पदार्थ में अश्रद्धा को प्रतिपादित किया। '**वाग्वै ब्रह्म**' (बृ.उ. ४.१.२), '**ते मृत्युमतिवर्तन्ते ये वै वाचमुपासते**' (शाबरभाष्य, १.३.८, सूत्र सं. २८) इत्यादि श्रुतियां भी आत्मस्थानीय वाक्तत्त्व (शब्दतत्त्व) की उपासना का विधान करती हुई व्याकरण में दर्शनपक्ष को समुद्घाटित करती हैं।

एक लाख श्लोकों में व्याकरण के दर्शनपक्ष को प्रतिपादित करने वाला व्याडिकृत '**सङ्ग्रह**' ग्रन्थ दुर्भाग्य से अनुपलब्ध है किन्तु सौभाग्य से महामुनि पतञ्जलि और भर्तृहरि ने अपनी रचनाओं (महाभाष्य और वाक्यपदीय) में व्याकरणदर्शन को पुनरुज्जीवित करते हुए सुप्रतिष्ठित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है। शब्दाद्वैतवाद (शब्दब्रह्म), स्फोटवाद, शब्दनित्यानित्यत्वविचार प्रभृति

१. काशिका, पदमञ्जरी, १.४.५४
२. शुक्लयजुर्वेद, ३१.१८
३. बृहदारण्यकोपनिषद, २.४.५
४. वही, १९.१७

व्याकरणदर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं जिन्हें प्राय: सभी दर्शनों ने अपनी-अपनी प्रक्रिया के अनुसार खण्डन-मण्डन की विधि से महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। यही कारण है कि सायण-माधवाचार्य ने अपने '**सर्वदर्शनसङ्ग्रह**' नामक ग्रन्थ में 'पाणिनीयदर्शनम्' के रूप में व्याकरणदर्शन को स्वतन्त्र स्थान प्रदान किया है।

शब्दब्रह्म

आचार्य भर्तृहरि रचित त्रिकाण्डी वाक्यपदीय का प्रथम काण्ड '**ब्रह्मकाण्ड**' (आगमकाण्ड) के नाम से सुप्रतिष्ठित है जिसका आरम्भ ही शब्दब्रह्म की विवेचना से हुआ है –

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत:।।[५]

आदिश्च निधनञ्च आदिनिधने। न विद्येते आदिनिधने यस्य तद् अनादिनिधनम्, उत्पत्तिविनाशरहितमित्यर्थ:। अर्थात् जो ब्रह्म उत्पत्ति और विनाश से रहित तथा समस्त विकल्पों से अतीत है वह शब्दतत्त्वस्वरूप ही है, क्योंकि समस्त अभिधेय पदार्थों का ज्ञान शब्दों के अनुगम से ही होता है। स्वयं भर्तृहरि कहते हैं कि लोक में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दों के अनुगम के विना होता हो, क्योंकि शब्द के द्वारा प्रत्यायित अर्थज्ञान पांसूदकवत् संसृष्ट होकर ही प्रकाशित होता है –

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य: शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।[६]

उक्ताशयपरक ही आचार्य दण्डी का कथन है –

इदमन्धन्तम: कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।[७]

अर्थात् शब्दज्योति ही परमोत्कृष्ट प्रकाशक तत्त्व है। यह शब्दतत्त्व **अक्षररूप** भी है क्योंकि अक्षरात्मक वर्णों का निमित्त होने के कारण सर्वव्यापक है। यह शब्दतत्त्व ही अर्थ के रूप में विवर्तभाव[८]

५. वाक्यपदीय, १.१
६. वाक्यपदीय, १.१२३
७. काव्यादर्श, १.४
८. एकस्यानेकरूपेण प्रतिभासो '**विवर्त:**'। अनेकस्यैकत्रोपसंहार: **संवर्त:**।-वाक्यपदीय, अम्बाकर्त्री टीका, १.१

को प्राप्त होता है क्योंकि शब्दब्रह्म से ही सकल आगमों की प्रथमत: उत्पत्ति (प्रक्रिया) मानी गई है।

अयमाशय:। ब्रह्म की दो अवस्थायें प्रसिद्ध हैं। प्रथम–विद्या के द्वारा प्रविभाग अवस्था से रहित होना। द्वितीय–अविद्या के द्वारा प्रविभाग अवस्था से युक्त होना। यद्यपि प्रविभाग अवस्था में ब्रह्म के धर्म और धर्मी के रूप में विकल्प प्राप्त होते हैं, फलत: 'घटोऽभूत्, भवति, भविष्यति' एवंविध कालभेद से भिन्न–भिन्न जातिमत्तया गो, घट आदि का ज्ञान कहीं भेदपूर्वक तथा कहीं अभेदात्मक होता है। **सिद्धान्तत:** प्रविभाग रहित अवस्था में ब्रह्म तत्त्व उक्त विकल्पातीत ही स्वीकार्य है। अविद्यापूर्वक प्रविभाग अवस्था को तो 'बालानाम् उपलालना' ही समझना चाहिए। ब्रह्म की जगद्रूप में अविवर्त अवस्था में सर्वविकल्पातीतत्व को ही यहाँ उत्पत्तिविनाशराहित्यरूप 'अनादिनिधन' पदवेद्यता समझना चाहिए। अथवा जगद्रूप में विवर्तभाव को प्राप्त होने वाली अवस्था में भी ब्रह्म को तो अनादिनिधन ही समझना चाहिए।

उक्त वर्णित ब्रह्म शब्दात्मक ही है, उससे अतिरिक्त नहीं। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जब ब्रह्म सर्वविकल्पातीत है तो शब्दतत्त्वापरपर्यायक कैसे हुआ? क्योंकि संसार के सभी रूप, रसादि विषय शब्दात्मक ही हैं जो विकल्पात्मक हैं।

इसका समाधान **अम्बाकर्त्रीकार** ने 'विकाराणां प्रकृत्यन्वयात् शब्दोपपत्ते:' कहकर किया है[९] अर्थात् घट, कुण्डल आदि विकार जैसे क्रमश: मृत्तिका, सुवर्ण आदि तत्तत्प्रकृति में ही अन्वित देखे जाते हैं वैसे ही रूपादिविषय की प्रकृति भी शब्दतत्त्व ही है। अत: शब्दतत्त्व ही ब्रह्म है। एतदाशयपरक ही यह श्रुतिवाक्य है –

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्' इति[१०]**।**

'जगत् की प्रकृति शब्दतत्त्व है' इसी आशय को आचार्य भर्तृहरि निम्नांकित कारिकाओं से प्रकाशित करते हैं –

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदु:।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्त्तत॥[११]
'शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी'[१२]**।**

९. वाक्यपदीय, अम्बाकर्त्री टीका, पृ. ३
१०. छान्दोग्योपनिषद्, ६.१.४
११. वाक्यपदीय, १.१२०
१२. वही, १.११८

अक्षरों का निमित्त होने के कारण शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म को अक्षरपदवाच्य पूर्व में प्रतिपादित किया गया है जिसका आशय यह भी है कि अविद्याशक्ति के द्वारा सन्निवेशित पद-वाक्यादिरूपता को प्राप्त वर्ण दूसरों को बोध कराने के लिए ज्ञान रूप प्रत्यक् चैतन्य में प्रयत्नपूर्वक अभिव्यक्त होते हैं। वही वर्णसङ्घातरूप वर्णव्यक्ति ब्रह्म रूप ज्ञानात्मा का अभिष्यन्द (स्राव, आधिक्य) कहलाता है। वाक्यपदीय की स्वोपज्ञवृत्ति में इसी आशय को प्रस्तुत किया गया है –

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविक्तत्तत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम्।
उतान्ये विदुरन्यामिव च एनां नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥[१३]

शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म ही अकारादि तथा कवर्गादि स्थूल वर्णों के आकार को ग्रहण कर रूपादि विषयों का ग्रहण कराने के लिए विवर्त्तभाव[१४] को प्राप्त करता है अर्थात् अपने स्वरूप में संस्थित रहते हुए अपनी अविद्याशक्ति के द्वारा रूप, रस आदि पदार्थरूप में प्रतिभासित होता है। कारिकागत **'विवर्ततेऽर्थभावेन'** यह विवरण इसी आशय को प्रकट कर रहा है।

शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म से वेदत्रयी रूप सकल **आगमों की प्रथमत:** उत्पत्ति (प्रक्रिया) मानी गई है। अत: कारिका के अन्तिम चरण में कहा गया है-'प्रक्रिया जगतो यत:' इति। यहाँ कारिकांश में प्रयुक्त **'जगत्'** पद 'जगत् के मूलभूत वेदत्रयी रूप सकल आगम' अर्थ में **लाक्षणिक** है।[१५] इसमें श्रुति भी प्रमाण है –

'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै'[१६]

इस श्रुतिवाक्य से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा की उत्पत्ति से भी पूर्व वेदों की स्थिति थी, अन्यथा वेदों का सम्प्रदान ब्रह्माजी को कैसे सम्भव था?

'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यत: सर्वा: प्रवृत्तय:॥'[१७]

---

१३. वाक्यपदीय, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ४
१४. एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्यविभक्तान्यरूपोपग्राहिता **विवर्त:।**
१५. 'अत्र जगच्छब्द: जगतो मूलभूते वेदे लाक्षणिक:' इति।
शाश्वत्, वाक्यपदीयालोके शब्दब्रह्मस्वरूपविमर्श:, पृ. १८४
१६. शरभोपनिषद्, ३
१७. महाभारत, शान्तिपर्व २३२.२४

यह महाभारतवचन तथा 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे' [१८] इत्यादि स्मृतिवचन एवं

'त्रयीरूपेण तज्ज्योतिः परमं परिवर्तते।
पृथक्तीर्थप्रवादेषु दृष्टिभेदनिबन्धनम्॥'[१९]

यह हरिवृषभ द्वारा स्वोपज्ञटीका में उद्धृतवचन प्रमाण हैं कि शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म का प्रथम विवर्त वेद ही है तथा वेदत्रयी से स्थावर-जङ्गम पदार्थों की उत्पत्ति (परिणति) हुई।

वाक्यपदीयकार ने ब्रह्म को शब्दतत्त्व कहा है- इसमें टीकाकार वृषभदेव ने हेतुप्रदर्शनावसर में निम्नाङ्कित कारिका उद्धृत की है –

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥[२०]

उक्त कारिका में प्रयुक्त 'शब्दनिर्माणम्' शब्द 'शब्दरूपतया निर्मीयन्तेऽनेन' इस विग्रह में कर्ता अर्थ में बाहुलकात् 'ल्युट्' प्रत्ययान्त है। 'ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणम्' का अर्थ हुआ 'शब्दकर्त्रभिन्ननिर्माणम् एव ब्रह्म, तत्कर्मीभूतमिदं जगत्।' अर्थात् सभी रूपादिविषय शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म द्वारा ही निर्मित हैं। शब्द की अभिधाख्या शक्ति ही इसमें ज्ञापक कारण है क्योंकि अर्थ की शब्द में ही स्थिति, शब्द से ही अर्थ में प्रवृत्ति तथा प्रलयकाल में शब्द में हीअर्थ का विलय माने जाते हैं। इसीलिए जगत् को **शब्दशक्तिनिबन्धन** कहा गया है। अपि च यह जगत् शब्दात्मक ब्रह्म की मात्राओं से ही विवर्तरूप में आविर्भूत तथा उपादान कारणस्वरूप तन्मात्राओं में प्रविलीन हो जाता है। 'अनादिनिधनम्' इत्यादि कारिका का पूर्वार्ध ब्रह्म के **स्वरूप** लक्षण[२१] को तथा उत्तरार्ध **तटस्थ**लक्षण[२१] को सङ्केतित करता है।

यह शब्दतत्त्वात्मक ब्रह्म एक ही है। अर्थात् इसका कोई भेद नहीं है-'एकमेवाद्वितीयम्'[२२] 'प्रणव एवैकः' इत्यादि श्रुतियाँ उक्ताभिप्रायक हैं। 'प्रणव' शब्द अविवृत्त 'आत्मा' का वाचक है और वाच्य-वाचक में अभेद माना जाता है, फिर अभेद होने पर भी अनिर्वचनीय शक्तियों के द्वारा ही पृथक्

१८. मनुस्मृति, १.२०
१९. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. ९
२०. वही, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ. १०
२१. लक्ष्ये वर्तमानं सद् लक्ष्येतराद् व्यावर्तयति यत्तत् स्वरूपलक्षणम्।
यत्कादाचित्कं सद् लक्ष्यमितरेभ्यो व्यावर्तयति तत् तटस्थलक्षणम्। -शाश्वत, पृ. १८३
२२. छान्दोग्योपनिषद्, ६.२.१

तत्त्व की भाँति प्रतीत होता है, वस्तुत: भेद नहीं है –

एकमेव यदाम्नातं भिन्नं शक्तिव्यपाश्रयात् ।
अपृथक्त्वेऽपि शक्तिभ्य: पृथक्त्वेनेव वर्तते ।।[२३]

शब्द का स्वरूप एवं स्फोट

'अनादिनिधनम्' इत्यादि कारिका में 'शब्दतत्त्व' पद के द्वारा वाक्यस्फोट का भी दिग्दर्शन कर दिया गया है। 'स्फोट' शब्द की व्युत्पत्ति है–'स्फुटति=प्रकाशतेऽर्थो येन स:' अथवा 'स्फुट्यतेऽभिव्यज्यते वर्णात्मकध्वनिना स: **स्फोट:**' । इनमें से प्रथम व्युत्पत्ति व्यञ्जक ध्वन्यात्मक शब्द में तथा द्वितीय व्युत्पत्ति व्यङ्ग्य स्फोटात्मक शब्द में घटित होती है।

शब्दस्वरूप के विषय में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने 'अथ गौरित्यत्र क: शब्द:' इत्याकारिका जिज्ञासा प्रस्तुत कर द्रव्य, आकृति, गुण, क्रियादि का निरास कर दो लक्षण प्रस्तुत किये।[२४] प्रथम लक्षण–'येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स **शब्द:**' इति। द्वितीय लक्षण–'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिरिति **शब्द:**' इति।

इनमें से प्रथम लक्षण स्फोट रूपी नित्य शब्द के विषय में तथा द्वितीय लक्षण कार्य (अनित्य) शब्द के विषय में प्रवृत्त होता है।

प्रथम लक्षण से लक्षित 'शब्द' **वाक्यस्फोट** का परिचायक है। महर्षि पाणिनि का 'स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' (पा.सू. १.१.६८) सूत्र इसमें प्रमाण है। यहाँ '**स्व**' शब्द आत्मीयवाची है। शब्द का आत्मीय 'अर्थ' ही होता है। सूत्रस्थ '**रूप**' शब्द से शब्द के स्वरूप का ग्रहण होता है। फलत: 'शब्द का स्वरूप' और 'अर्थ'–ये दोनों उक्त सूत्र से बोधित होते हैं। अर्थात् 'अर्थविशिष्ट शब्द' ही शब्द का सञ्ज्ञी होता है।

अन्यच्च–'वचोऽशब्दसञ्ज्ञायाम्' (पा. ७.३.६७) इस अनुशासन से अशब्दसञ्ज्ञा होने पर कुत्वरहित 'वाच्यम्' ऐसा प्रयोग बनता है, जबकि 'शब्द' सञ्ज्ञा होने पर 'वाक्यम्' प्रयोग बनता है जो '**वाक्यस्फोट**' को द्योतित करता है।

अपि च–आविष्कारार्थक 'शब्द' धातु से बाहुलकात् करण अर्थ में 'घञ्' अथवा 'कर्ता' अर्थ में 'अच्' प्रत्यय होने पर 'शब्द'–इस प्रातिपादिक की निष्पत्ति होती है जो क्रमश: 'प्रकाशन' और 'प्रकाशक' रूपी अर्थों को प्रकट करते हैं। फलत: अर्थप्रकाशक 'शब्द' ही सिद्धान्त में '**वाक्यस्फोट**' है।

२३. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, १.२

२४. महाभाष्य, पस्पशाह्निक, पृ. १२–१४

यही वाक्यस्फोट भर्तृहरि के अनुसार 'परा–पश्यन्ती' वाक् का विषय है –

वैखर्य्याः मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्याः वाचः परं पदम् ।।[२५]

अर्थात् वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती–आख्या वाली त्रयी वाक् अनेक तीर्थभेद (स्थानभेद) वाली है। इस वाक्तत्त्व की अवगति के लिए यह व्याकरण अद्भुत और उत्कृष्ट (परम्) साधन (पदम्) माना गया है। कारिकास्थ **'पद'** शब्द सुप्तिङन्तात्मक पारिभाषिक नहीं है, अपितु 'पद्यते=ज्ञायतेऽनेन' इस व्युत्पत्ति से 'ज्ञानसाधन' परक है। 'पश्यन्ती' वाक् भी 'परा' और 'अपरा' के भेद से दो प्रकार की मानी गई है। वाक्तत्त्व के अनेक तीर्थभेदों का प्रतिपादन निम्नांकित से स्पष्ट है –

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।।[२६]

नागेशदर्शित उक्त 'परा' वाक् को भर्तृहरि ने 'परा–पश्यन्ती' के नाम से स्वीकार किया है –

अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी ।।[२७]

'एकः पूर्वपरयोः' (पा.६.१.८४) सूत्र के 'एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति' इस भाष्य ने सम्यग् ज्ञानपूर्वक **वाक्यस्फोट** को ही परमपुरुषार्थ का साधक कहा है। वाक्यस्फोटात्मक शब्दतत्त्व रूपी ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली यह व्याकरणस्मृति मुमुक्षुओं के लिए आत्म–साक्षात्कार कराने हेतु सीधा राजमार्ग मानी गई है –

इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धतिः ।।[२८]

२५. वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड, पृ. १.१४२
२६. परमलघुमञ्जूषा, (बड़ौदा, १९६१), पृ. ५३
२७. वाक्यपदीय, स्वोपज्ञवृत्ति, १/१४२
२८. वाक्यपदीय, १/१६

अन्त में दीधितिकार नैयायिकप्रवर रघुनाथशिरोमणि की उक्ति से अपने वक्तव्य को सम्पन्न करता हूँ–

मान्यान् प्रणम्य विहिताञ्जलिरेष भूयो–
भूयो निवेद्य विनयं विनिवेदयामि।
दूष्यं वचो मम परं निपुणं विभाव्य
भावावबोधविहितं न दुनोति चेतः ।।

सन्दर्भग्रन्थः

- वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्), 'स्वोपज्ञवृत्ति' एवं '**अम्बाकर्त्री**' व्याख्याद्वयोपेतम्, वाराणसी, १९८८
- **शाश्वत,** वैदिक अध्ययन केन्द्र, जोधपुर, १९९७
- महाभाष्यम् (नवाह्निकम्), वाणीविलासप्रकाशन, वाराणासी, १९८८